मैं हिन्दी लिखने की ओर क्यों झुका ?

मैं नित्य की तरह एक दिन अपने काम में लगा ही था कि मेरे मित्र श्री रतिभाई ने आकर मुझ से इतना ही कहा कि आपको पुरस्कार के लिए श्री जेठालाल जोशी कहने आएँगे, तो उसका अस्वीकार नहीं करना, इत्यादि। यह सुनकर मैं एकदम आश्चर्य में पड़ गया। आश्चर्य कई बातों का था। पुरस्कार मुझे किस बात के लिए ? फिर श्री जेठालाल जोशी से इसका क्या सम्बन्ध ? अभी ऐसी कौन-सी बात है कि जिसके लिए मैं पसन्द किया गया ? फिर पुरस्कार क्या होगा ? क्या कोई पुस्तक होगी या अन्य कुछ ? इत्यादि।

आश्चर्य कुछ अर्से तक रहा। मैंने अपने मानसिक प्रश्नों के बारे में पूछ-ताछ भी नहीं की—यह सोचकर कि श्री जोशीजी को तो आने दो। जब वे मिले और उनसे पुरस्कार की भूमिका जान ली तब मैंने उसका स्वीकार तो किया, पर मन में तब से आज तक उत्तरोत्तर आश्चर्य की परम्परा अधिकाधिक बढ़ती ही रही है।

कई प्रश्न उठे। कुछ ये हैं—मैंने जो कुछ हिन्दी में लिखा उसकी जानकारी वर्धा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति को कैसे हुई ? क्या इस जानकारी के पीछे मेरे किसी विशेष परिचित का हाथ तो नहीं है ? समिति ने मेरे लिखे सब हिन्दी पुस्तक-पुस्तिका, लेख आदि देखे होंगे या कुछ ही ? उसे यह सब लेख-सामग्री कहाँ से कैसे मिली होगी जो मेरे पास तक नहीं है ? अच्छा, यह सामग्री मिली भी हो तो वह पारितोषिक के पात्र है—इसका निर्णय किसने किया होगा ? निर्णय करने वालों में क्या ऐसे व्यक्ति भी होंगे जिन्होंने मेरे सारे हिन्दी साहित्य को ध्यान से अथेति देखा भी होगा और उसके गुण-दोषों पर स्वतन्त्र भाव से विचार भी किया होगा ? ऐसा तो हुआ न होगा कि किसी एक प्रतिष्ठित व्यक्ति ने सिफारिश की हो और इतर सभ्यों ने जैसा बहुधा अन्य समितियों में होता है वैसे, एक या दूसरे कारण से उसे मान्य रखा हो ? अगर ऐसा हुआ हो तो मेरे लिए क्या उचित होगा कि मैं मात्र अहिन्दी भाषा-भाषी होने के नाते इस पुरस्कार को स्वीकार करूँ ? न जाने ऐसे कितने ही प्रश्न मन में उठते रहे।

कुछ दिनों के बाद श्री जेठालाल जोशी मिले। फिर श्री मोहनलाल भट्ट के साथ भी वे मिले। मैंने उक्त प्रश्नों में से महत्त्व के थोड़े प्रश्न उनके सामने रखे। मैं अनजान था कि कार्यकारिणी समिति के सदस्य कितने, कौन-कौन और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किस कोटि के हैं ? श्री जोशीजी और श्री भट्टजी ने सदस्यों का कुछ परिचय कराया। फिर तो उनकी योग्यता के बारे में सन्देह को स्थान ही न रहा। फिर भी मन में एक सवाल तो बार-बार उठता ही रहा कि निःसन्देह सदस्य सुयोग्य हैं, पर क्या इतनी फुरसत किसी को होगी कि वह मेरा लिखा ध्यान से देख भी लें ? और यह भी सवाल था कि मैंने दार्शनिक और खासकर साम्प्रदायिक माने जानेवाले कई विषयों पर यथाशक्ति जो कुछ लिखा है उसमें उन सुयोग्य द्रष्टाओं को भी कैसे रस आया होगा ? परन्तु जब मैंने सुना कि जोधपुर कॉलेज के प्रो. डॉ. सोमनाथ गुप्त ने सूचना की और सब सदस्यों ने सर्वसम्मति से पारितोषिक देने का निर्णय किया तब मुझे इतनी तसल्ली हुई कि अवश्य ही किसी-न-किसी सुयोग्य व्यक्ति ने पूरा नहीं तो महत्त्व का मेरा लिखा अंश जरूर पढ़ा है। इतना ही नहीं, बल्कि उसने मध्यस्थ दृष्टि से गुण-दोष का विचार भी किया है। ऐसी तसल्ली होते ही मैंने श्री भट्ट और श्री जोशी दोनों के सामने पारितोषिक स्वीकार करने की अनुमति दे दी।

पुरस्कार लेने न-लेने की भूमिका इतनी विस्तृत रूप से लिखने के पीछे मेरा खास उद्देश्य है। मैं सतत यह मानता आया हूँ कि पुरस्कार केवल गुणवत्ता की कसौटी पर ही दिया जाना चाहिए, और चाहता था कि इस आन्तरिक मान्यता का मैं किसी तरह अपवाद न बनूँ।

अब तो मैं आ ही गया हूँ और अपनी कहानी भी मैंने कह दी है। समिति पारितोषिक देकर अधिकारी पाठकों को यह सूचित करती है कि वे इस साहित्य को पढ़ें और सोचें कि समिति का निर्णय कहाँ तक ठीक है। मेरा चित्त कहता है कि अगर अधिकारी हिन्दीज्ञ मेरे लिखे विषयों को पढ़ेंगे तो उनको समय व शक्ति बरबाद होने की शिकायत करनी न पड़ेगी।

अब मैं अपने असली विषय पर आता हूँ। यहाँ मेरा मुख्य वक्तव्य तो इसी मुद्दे पर होना चाहिए कि मैं एक गुजराती, गुजराती में भी झालावाड़ी, तिस पर भी परतन्त्र; फिर हिन्दी भाषा में लिखने की ओर क्यों, कब और किस कारण से झुका ? संक्षेप में यों कहें कि हिन्दी में लिखने की प्रेरणा का बीज क्या रहा ?

मेरे सहचर और सहाध्यायी पं. ब्रजलाल शुक्ल जो उत्तर-प्रदेश के निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण रहे, मेरे मित्र भी थे। हम दोनों ने बंगभंग की हलचल से, खासकर लोकमान्य को सजा मिलने के बाद की परिस्थिति से, साथ ही काम करने का तय किया था। काठियावाड़ के सुप्रसिद्ध जैन-तीर्थ पालीताना में एक जैन मुनि थे, जिनका नाम था सन्मित्र कपूर विजयजी। हम दोनों मित्रों के वह श्रद्धाभाजन भी रहे। एक बार उक्त मुनिजी ने ब्रजलालजी से कहा कि तुम द्रष्टा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो और स्वतन्त्र भी। अतएव उत्तम-उत्तम जैन ग्रन्थों का अनुवाद करो या सार लिखो और सुखलालजी नहीं देख सकने के कारण लिखने में तो समर्थ हो नहीं सकते, अतएव वह उनके प्रिय अध्यापन कार्य को ही करते रहें। पीछे से मुझे उक्त मुनिजी की सलाह ज्ञात हुई। उसी समय मुझे विचार आया कि क्या मैं सचमुच अपने सुअधीत और सुपरिचित विषयों में भी लिखने का काम कर नहीं सकता? अन्तर्मुख मन ने जवाब दिया कि तुम जरूर कर सकते हो और तुम्हें करना भी चाहिए। यह जवाब संकल्प में परिणत तो हुआ, पर आगे प्रश्न था कि कब और कैसे उसे असली रूप दिया जाए? मेरा दृढ़ संकल्प तो दूसरा कोई जानता न था, पर वह मुझे चुप बैठे रहने भी न देता था। एक बार अचानक एक पढ़े-लिखे गुजराती मित्र आ गए। मुझसे कहा कि इन पच्चीस प्राकृत गाथाओं का अनुवाद चाहिए। मैं बैठ गया और करीब सवा घण्टे में लिख डाला। दूसरा प्रसंग सम्भवतः बड़ौदे में आया। याद नहीं कि वह अनुवाद मैंने गुजराती में लिखवाया था हिन्दी में, पर तब से वह संकल्प का बीज अंकुरित होने लगा और मन में पक्का विश्वास पैदा हुआ कि अध्यापन के अलावा मैं लिखने का काम भी कर सकूँगा।

मेरे कुछ मित्र और सहायक आगरा के निवासी थे। अतएव मैं ई० १९१६ के अन्त में आगरा चला गया। उधर तो हिन्दी भाषा में ही लिखना पड़ता था, पर जब मैंने देखा कि काशी में दस साल बिताने के बाद भी मैं हिन्दी को शुद्ध रूप में जानता नहीं हूँ और लिखना तो है उसी भाषा में, तब तुरन्त ही मैं काशी चला गया। वह समय था चम्पारन में गान्धीजी के सत्याग्रह करने का। गंगा-तट का एकान्त स्थान तो साधना की गुफा जैसा था, पर मेरे कार्य में कई बाधाएँ थीं। मैं न शुद्ध पढ़नेवाला, न मुझे हिन्दी साहित्य का विशाल परिचय और न मेरे लिए अपेक्षित अन्य साधनों की सुलभता। पर आखिर को बल तो संकल्प का था ही। जो और जैसे साधन मिले उन्हीं से हिन्दी भाषा का नए सिरे से अध्ययन शुरू किया। अध्ययन करते समय मैंने बहुत ग्लानि महसूस की। ग्लानि इसलिए कि मैं दस साल तक संस्कृत और तद्वत् अनेक विषयों को हिन्दी भाषा में ही पढ़ता था; फिर भी मेरी हिन्दी भाषा, अपने-अपने विषय में असाधारण पर हिन्दी की दृष्टि से दरिद्र तथा पुराने ढर्रे की हिन्दी बोलने वाले मेरे अनेक पूज्य अध्यापकों से कुछ भी आगे बढ़ न सकी थी। पर इस ग्लानि ने और बल दिया।

फिर तो मैंने हिन्दी के कामताप्रसाद गुरु, रामजीलाल आदि के कई व्याकरण ध्यान से देखे। हिन्दी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ लेखकों के ग्रन्थ, लेख, पत्र-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पत्रिकाएँ आदि भाषा की दृष्टि से देखने लगा। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के रघुवंश, माघ आदि के अनुवाद, अंग्रेजी के स्वाधीनता, शिक्षा आदि अनुवाद तो सुने ही, पर तत्कालीन सरस्वती, मर्यादा, अभ्युदय आदि अनेक सामयिक पत्रों को भी कई दृष्टि से सुनने लगा, पर उसमें मुख्य दृष्टि भाषा की रही।

रोजमर्रा केवल अच्छे साहित्य को सुन लेने से लिखने योग्य आवश्यक संस्कार पड़ नहीं सकते—यह प्रतीति तो थी ही। अतएव साथ ही साथ हिन्दी में लिखाने का भी प्रयोग करता रहा। याद है कि मैंने सबसे पहले संस्कृत ग्रन्थ 'ज्ञानसार' पसन्द किया जो प्रसिद्ध तार्किक और दार्शनिक बहुश्रुत विद्वान् उ. यशोविजयजी की पद्यबद्ध मनोरम कृति है। मैं उस कृति के अष्टकों का भावानुवाद करता, फिर विवेचन भी। परन्तु मैं विशेष एकाग्रता व श्रम से अनुवाद आदि लिखाकर जब उसे मेरे मित्र ब्रजलालजी को दिखाता था तब अक्सर वह उसमें कुछ-न-कुछ त्रुटि बतलाते थे। वह विस्पष्ट हिन्दी-भाषी थे और अच्छा लिखते भी थे। उनकी बतलाई त्रुटि अक्सर भाषा, शैली आदि के बारे में होती थी। निर्दिष्ट त्रुटि को सुनकर मैं कभी हतोत्साह हुआ ऐसा याद नहीं आता। पुनः प्रयत्न, पुनर्लेखन, पुनरवधान इस क्रम से उस बच्छराज घाट की गुफा जैसी कोठरी में करारे जाड़े और सख्त गरमी में भी करीब आठ मास बीते। अन्त में थोड़ा सन्तोष हुआ। फिर तो मूल उद्दिष्ट कार्य में ही लगा। वह कार्य था कर्मविषयक जैन ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद तथा विवेचन करना। उस साल के आषाढ़ मास में पूना गया। निर्धारित काम तो साथ था ही, पर पूना की राजकीय, सामाजिक और विद्या विषयक हलचलों ने भी मुझे अपने लेखन कार्य में प्रोत्साहित किया। तिलक का गीतारहस्य, केलकर के निबन्ध, राजवाड़े के गीता-विवेचन आदि देखकर मन में हुआ कि जिन कर्मग्रन्थों का मैं अनुवाद विवेचन करता हूँ उनकी प्रस्तावनाएँ मुझे तुलना एवं इतिहास की दृष्टि से लिखनी चाहिए। फिर मुझे जँचा कि अब आगरा ही उपयुक्त स्थान है। वहाँ पहुँच कर योग्य साथियों की तजवीज में लगा और अन्त में थोड़ी सफलता भी मिली। इष्ट प्रस्तावनाओं के लिए यथासम्भव विशाल दृष्टि से आवश्यक दार्शनिक संस्कृत-प्राकृत-पालि आदि वाङ्मय तो सुनता ही था, पर साथ में धुन थी हिन्दी भाषा के विशेष परिशीलन की।

इस धुन का चार साल का लम्बा इतिहास है, पर यहाँ तो मुझे इतना ही कहना है कि उन दिनों में सात छोटे-बड़े संस्कृत ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद-विवेचन के साथ तैयार हुए और उनकी प्रस्तावनाएँ भी, सर्वांश में नहीं तो अल्पांश में, सन्तोषजनक लिखी गईं व बहुत-सा भाग छपा भी। जो ग्रन्थ पूरे तैयार हुए वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो छपे, पर बहुत सा ऐसा भाग भी लिखा गया जो मेरी राय में विषय व निरूपण की दृष्टि से गम्भीर था, पर पूरा हुआ नहीं था। मैं उस अधूरे मैटर को वहीं छोड़कर १९२१ की गरमी में अहमदाबाद चला आया।

गुजरात विद्यापीठ में इतर कार्यों के साथ लिखाता तो था, पर वहाँ मुख्य कार्य सम्पादन और अध्यापन का रहा। बीच-बीच में लिखता अवश्य था, पर गुजराती में अधिक और हिन्दी में केवल प्रसंगवश। यद्यपि गुजरात में गुजराती में ही काम करता रहा फिर भी मुख तो हिन्दी भाषा के संस्कारों की ओर ही रहा। इसी से मैंने तत्त्वार्थ आदि को हिन्दी में ही लिखना जारी रखा।

गुजरात में, तिसमें भी गुजरात विद्यापीठ और गान्धीजी के सान्निध्य में रहना यह प्राचीन भाषा में कहें तो पुण्यलभ्य प्रसंग था। वहाँ जो विविध विषय के पारगामी विद्वानों का दल जमा था उससे मेरे लेखन-कार्य में मुझे बहुत-कुछ प्रेरणा मिली। एक संस्कार तो यह दृढ़ हुआ कि जो लिखना वह चालू बोल-चाल की भाषा में, चाहे वह गुजराती हो या हिन्दी। संस्कृत जैसी शास्त्रीय भाषा में लिखना हो तो भी साथ ही उसका भाव चालू भाषा में रखना चाहिये। इसका फल भी अच्छा अनुभूत हुआ।

अहमदाबाद और गुजरात में बारह वर्ष बीते। फिर ई० १९३३ से काशी में रहने का प्रसंग आया। शुरू में दो साल तो खास लिखाने में न बीते, पर १९३५ से नया युग शुरू हुआ। पं० श्री दलसुख मालवणिया, जो अभी हिन्दू यूनिवर्सिटी के ओरिएण्टल कालेज में जैनदर्शन के विशिष्ट अध्यापक हैं, १९३५ में काशी आये। पुनः हिन्दी में लेखन-यज्ञ की भूमिका तैयार होने लगी। प्रमाण-मीमांसा, ज्ञानबिन्दु, जैनतर्क भाषा, तत्त्वोपप्लवसिंह, हेतुबिन्दु जैसे संस्कृत ग्रन्थों का सम्पादन कार्य सामने था, पर विचार हुआ कि इसके साथ दार्शनिक विविध मुद्दों पर तुलनात्मक व ऐतिहासिक दृष्टि से टिप्पणियाँ लिखी जाएँ। प्रस्तावना आदि भी उसी विशाल दृष्टि से, और वह सब लिखना होगा हिन्दी में।

यद्यपि मेरे कई मित्र तथा गुरुजन, जो मुख्यतया संस्कृत-भक्त थे, मुझे सलाह देते थे कि संस्कृत में ही लिखो। इससे विद्वत्परिषद् में प्रतिष्ठा बढ़ेगी। मैं चाहता तो अवश्य ही संस्कृत में और शायद सुचारु सरल संस्कृत लिखता, पर मेरे भाषा में लिखने के संस्कार ने मुझे बिलकुल स्थिर रखा। तभी से सोचता हूँ तो लगता है कि हिन्दी भाषा में लिखा यह अच्छा हुआ। यदि संस्कृत में लिखता तो भी उससे आखिर को पढ़ने वाले अपनी-अपनी भाषा में ही सार ग्रहण करते। ऐसी स्थिति में हिन्दी भाषा में लिखे विषय को पढ़नेवाले बहुत आसानी से समझ सकते हैं। मैंने सोचा कि कुछ बंगाली और कुछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दाक्षिणात्य ऐसे हो सकते हैं जो हिन्दी को बराबर नहीं जानते, पर जब हिन्दी भाषा राष्ट्रीय, व्यापक व सरल है तब वे लोग भी, अगर पुस्तक उपादेय है तो, अवश्य सोचेंगे और जिज्ञासा हुई तो इस निमित्त हिन्दी समझने का प्रयत्न भी करेंगे व राष्ट्रभाषा के प्रचार की गति भी बढ़ावेंगे। अस्तु,

काशी में था तो कभी-कभी मित्रों ने सलाह दी थी कि मैं अपने ग्रन्थों को मंगलाप्रसाद पारितोषिक के लिए समिति के सम्मुख उपस्थित करूँ, पर मैं कभी मन से भी इस प्रलोभन में न पड़ा। यह सोचकर कि जो लिखा है वह अगर उस-उस विषय के सुनिष्णातों को योग्य व उपयोगी जँचेगा तो यह वस्तु पारितोषिक से भी अधिक मूल्यवान् है; फिर पारितोषिक की आशा में मन को विचलित क्यों करना? और भी जो कुछ प्राक्कथन आदि लिखना पड़ता था वह काशी में तो प्रायः हिन्दी में ही लिखता था, पर ई० १९४४ की जनवरी में बम्बई और उसके बाद १९४७ में अहमदाबाद आया तब से आज तक हिन्दी भाषा में लिखने के विचार का संस्कार शिथिल नहीं हुआ है। यद्यपि गुजरात में अधिकतर गुजराती में ही प्रवृत्ति चलती है, तो भी राष्ट्रीय-भाषा के नाते व पहले के दृढ़ संस्कार के कारण हिन्दी भाषा में लिखता हूँ तब विशेष सन्तोष होता है। इससे गुजरात में रहते हुए भी जुदे-जुदे विषयों पर थोड़ा बहुत कुछ-न-कुछ हिन्दी में लिखता ही रहता हूँ। मैं इस रुचिकर या अरुचिकर रामकहानी को न लिखने में समय बिताता और न सभा का समय उसे सुनाने में ही लेता, अगर इसके पीछे मेरा कोई खास आशय न होता। मेरा मुख्य और मौलिक अभिप्राय यह है कि मनुष्य जब कोई संकल्प कर लेता है और अगर वह संकल्प दृढ़ तथा विचारपूत हुआ तो उसके द्वारा वह अन्त में सफल अवश्य होता है। दूसरी बात जो मुझे सूझती है वह यह कि अध्ययन-मनन-लेखन आदि व्यवसाय का मुख्य प्रेरक बल केवल अन्तर्विकास और आत्म-सन्तोष ही होना चाहिये। ख्याति, अर्थलाभ, दूसरों को सुधारना इत्यादि बातों का स्थान विद्योपासक के लिए गौण है। खेती मुख्य रूप से अन्न के लिए है; तुष-भूसा आदि अन्न के साथ आनुषंगिक हैं।

मैं गुजरातीभाषी होने के नाते गुजराती भाषा के साहित्य के प्रकर्ष का पक्षपाती रहा हूँ और हूँ, पर इससे राष्ट्र-भाषा के प्रति मेरे दृष्टिकोण में कभी कोई अन्तर न पड़ा, न आज भी है। प्रत्युत मैंने देखा है कि ये प्रान्तीय भाषाएँ परस्पर सहोदर भगिनियाँ हैं। कोई एक दूसरी के उत्कर्ष के सिवाय अपना-अपना पूरा और सर्वांगीण उत्कर्ष साध ही नहीं सकतीं। प्रान्तीय भाषा-भगिनियों में भी राष्ट्र-भाषा का कई कारणों से विशिष्ट स्थान है। इस स्थान की प्रतिष्ठा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायम रखने और बढ़ाने के लिए हिन्दी के सुलेखकों और विचारकों के ऊपर गम्भीर जिम्मेदारी भी है।

संकुचित और भीरू मनोवृत्तिवाले प्रान्तीय भाषा के पक्षपातियों के कारण कुछ गलतफहमी पैदा होती है तो दूसरी ओर आवेशयुक्त और धमण्डी हिन्दी के कुछ समर्थकों के कारण भी कुछ गलतफहमियाँ फैल जाती हैं। फलस्वरूप ऐसा वातावरण भी तैयार हो जाता है कि मानो प्रान्तीय भाषाओं व राष्ट्र-भाषा में परस्पर प्रतिस्पर्द्धा हो। इसका असर सरकारी-तन्त्र में भी देखा जाता है। परन्तु मैं निश्चित रूप से मानता हूँ कि प्रान्तीय भाषाओं और राष्ट्र-भाषा के बीच कोई विरोध नहीं और न होना चाहिये। प्रान्तीय भाषाओं की प्रवृत्ति व कार्यक्षेत्र मुख्य रूप से प्रान्तीय सर्वांगीण शिक्षा, प्रान्तीय सामाजिक, आर्थिक व राजकीय-व्यवहार आदि तक सीमित है; जब कि राष्ट्र-भाषा का प्रवृत्तिक्षेत्र अन्तरप्रान्तीय यावत् व्यवहारों तक फैला है। इसलिये राष्ट्रीयता के नाते हरएक शिक्षित कहलाने वाले प्रान्तीय व्यक्ति को राष्ट्रभाषा का जानना उचित भी है और लाभदायक भी। इसी तरह जिनकी मातृभाषा हिन्दी है वे भी शिक्षित तथा संस्कारी कोटि में तभी गिने जा सकते हैं जब वे प्रान्तीय भाषाओं से अधिकाधिक परिचित हों। शिक्षा देना या लेना, विचार करना व उसे अभिव्यक्त करना इत्यादि सब काम मातृभाषा में विशेष आसानी से होता है और इस कारण उसमें मौलिकता भी सम्भव है। जब कोई प्रान्तीय भाषा-भाषी अपनी सहज मातृभाषा में मौलिक व विशिष्ट रूप से लिखेगा तब उसका लाभ राष्ट्र-भाषा को अवश्य मिलेगा। अनेक प्रान्तीय भाषाओं के ऐसे लेखकों के सर्जन अपने-अपने प्रान्त के अलावा राष्ट्रभर के लिए भेंट बन जाते हैं। कविवर टैगोर ने बंगाली में लिखा, पर राष्ट्र-भर के लिए वह अर्पण साबित हुआ। गान्धीजी गुजराती में लिखते थे तो भी इतर भाषाओं के उपरान्त राष्ट्र-भाषा में भी अवतीर्ण होता था। सच्चा बल प्रतिभाजनित मौलिक विचार व लेखन में है, फिर वह किसी भी भाषा में अभिव्यक्त क्यों न हुआ हो। उसे बिना अपनाए बुद्धिजीवी मनुष्य सन्तुष्ट रह ही नहीं सकता। अतएव मेरी राय में प्रान्तीय भाषा-भाषियों को हिन्दी भाषा के प्रचार को आक्रमण समझने की या शंका-दृष्टि से देखने की कोई जरूरत नहीं। वे अपनी-अपनी भाषा में अपनी शक्ति विशेष-रूप से दरसायेंगे तो उनका सर्जन अन्त में राष्ट्र-भाषा को एक देन ही साबित होगा। इसी तरह राष्ट्र-भाषा के अति उत्साही पर अदीर्घदर्शी लेखकों व वक्ताओं से भी मेरा नम्र निवेदन है कि वे अपने लेखन व भाषण में ऐसी कोई बात न कहें जिससे अन्य प्रान्तों में हिन्दी के आक्रमण का भाव पैदा हो। उत्साही व समझदार प्रचारकों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनम्र कार्य तो यह होना चाहिए कि वे राष्ट्रीय भाषा के साहित्य की गुणवत्ता बढ़ाने की ओर ही दत्तचित्त रहें और खुद यथाशक्ति प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन भी करें, उनमें से सारग्राही भाग हिन्दी में अवतीर्ण करें तथा प्रान्तीय भाषाओं के सुलेखकों के साथ ऐसे घुलमिल जाएँ जिससे सब को उनके प्रति आदरणीय अतिथि का भाव पैदा हो।

अंग्रेजी भाषा का वर्चस्व भले ही राजकीय सत्ता के कारण पहले-पहल शुरू हुआ, पर आज जो उसके प्रति अति-आकर्षण और आदर-ममता का भाव है वह तो उसकी अनेकांगी गुणवत्ता के कारण ही। आज भारत के ऊपर अंग्रेजी भाषा का बोझ थोपने वाली कोई परकीय सत्ता नहीं है, फिर भी हम उसके विशिष्ट सामर्थ्य से उसके ऐच्छिक भक्त बन जाते हैं, तब हमारा फर्ज हो जाता है कि हम राष्ट्रभाषा के पक्षपाती और प्रचारक राष्ट्रभाषा में ऐसी गुणमयी मोहिनी लाने का प्रयत्न करें जिससे उसका आदर सहज भाव से सार्वत्रिक हो। हिन्दी भाषा के प्रचार के लिए जितने साधन-सुभीते आज प्राप्त हैं उतने पहले कभी न थे। अब जरूरत है तो इस बात की है कि हिन्दी भाषा के साहित्य का प्रत्येक अंग पूर्ण रूप से विकसित करने की ओर प्रवृत्ति की जाए।

जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेज, आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय भाषाओं, दर्शनों, शास्त्रों, परम्पराओं और शिल्प-स्थापत्य आदि के बारे में पिछले सौ-सवा सौ वर्ष में इतना अधिक और गवेषणापूर्ण लिखा है कि इसके महत्त्वपूर्ण भाग को बिना जाने हम अपने उच्चतम साहित्य की भूमिका ही नहीं तैयार कर सकते। इस दृष्टि से कहना हो तो कहा जा सकता है कि राष्ट्र-भाषा के साहित्य विषयक सब अंग-प्रत्यंगों का अद्यतन विकास सिद्ध करने के लिए एक ऐसी अकादमी आवश्यक है कि जिसमें उस विषय के पारदर्शी विद्वान् व लेखक समय-समय पर एकत्र हों और अन्य अधिकारी व्यक्तियों को अपने-अपने विषय में मार्गदर्शन करें जिससे नई पीढ़ी और भी समर्थतर पैदा हो।

वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, पिटक, आगम, अवेस्ता आदि से लेकर आधुनिक भारतीय विविध विषयक कृतियों पर पाश्चात्य भाषाओं में इतना अधिक और कभी-कभी इतना सूक्ष्म व मौलिक लिखा गया है कि हम उसका पूरा उपयोग किए बिना हिन्दी वाङ्मय की राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बढ़ा ही नहीं सकते।

मैं यहाँ कोई समालोचना करने या उपदेश देने के लिए उपस्थित नहीं हुआ हूँ, पर अपने काम को करते हुए मुझे जो अनुभव हुआ, जो विचार आया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह अगर नम्र-भाव से सूचित न करूँ तो मैं साहित्य का, खास कर हिन्दी साहित्य का उपासक ही कैसे कहला सकता हूँ ?

जब मैं अंग्रेजी के अत्यल्प परिचय के द्वारा भी मेक्समूलर, थीबो, गार्वे, जेकोबी, विन्तर्नित्ज, शेरबात्सकी आदि की तपस्या को अल्पांश में भी जान सका और समान विषय के नवीनतम हिन्दी लेखकों की उन मनीषियों की साधना के साथ तुलना की तो मुझे लगा कि अगर मेरी उम्र व शक्ति होती या पहले ही से इस दिशा में मुझे कुछ प्रयत्न करने का सूझता तो अवश्य ही मैं अपने विषय में कुछ और अधिक मौलिकता ला सकता। पर मैं थोड़ा भी निराश नहीं हूँ। मैं व्यक्तिमात्र में कार्य की इतिश्री माननेवाला नहीं। व्यक्ति तो समष्टि का एक अंग है। उसका सोचा-विचारा और किया काम अगर सत्संकल्प-मूलक है तो वह समष्टि के और नई पीढ़ी के द्वारा सिद्ध हुए बिना रह ही नहीं सकता।

भारत का भाग्य बहुत आशापूर्ण है। जो भारत गान्धीजी, विनोबाजी और नेहरू को पैदाकर सत्य, अहिंसा की सच्ची प्रतिष्ठा स्थापित कर सकता है वह अवश्य ही अपनी निर्बलताओं को झाड़झूड़ कर फेंक देगा। मैं आशा करूँगा कि आप मेरे इस कथन को अतिवादी न समझें।

मैं राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा का आभारी हूँ जिसने एक ऐसे व्यक्ति को, जिसने कभी अपनी कृतियों को पुरस्कृत होने की स्वप्न में भी आशा न की थी, कोने में पड़ी कृतियों को ढूँढ़ निकाला। 'महात्मा गान्धी पुरस्कार' की योजना इसलिए सराहनीय है कि उससे अहिन्दीभाषी होनहार लेखकों को उत्तेजन मिलता है। मुझ जैसा व्यक्ति तो शायद बाहरी उत्तेजन के सिवाय भी भीतरी प्रेरणावश बिना कुछ-न-कुछ लिखे शान्त रह ही नहीं सकता, पर नई पीढ़ी का प्रश्न निराला है। अवश्य ही इस पुरस्कार से वह पीढ़ी प्रभावित होगी।[1]

---

१. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के जयपुर अधिवेशन में 'महात्मागांधी पुरस्कार' की प्राप्ति के अवसर पर ता० १८–१०–५६ को दिया गया भाषण—सं०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org